



## द ट्रांसफॉर्मेटिव कॉन्स्टिट्यूशन : ए रेडिकल बायोग्राफी इन नाइन एक्ट्स

प्रकाशक: हार्पर कौलिन्स

लेखक : गौतम भाटिया

मणिकांत सिंह

भारत के संविधान को वर्ष 1950 में अपनाए जाने के बाद ही भारत में संघीय जनतांत्रिक गणराज्य की स्थापना हुई है। इस संविधान की व्यवस्था के अनुसार ही विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सत्ता के विभाजन के अनुसार अपने-अपने कार्याधिकार क्षेत्र में काम करते हैं। यह संविधान ही कानून के राज की नींव है और नागरिक के बुनियादी अधिकारों तथा राज्य के नीति निर्देशक तत्वों का सबसे महत्वपूर्ण दस्तावेज है। हम सभी की जिंदगी के लगभग हर पक्ष को यह संवैधानिक व्यवस्था निरंतर प्रभावित करती है। संविधान को अंगीकार करने से लेकर आज तक इसमें अनेक संशोधन किए जा चुके हैं और अनुसूचियाँ जोड़ी जा चुकी हैं। यह भी आवश्यक ही है क्योंकि समय के साथ बदलने वाली संवैधानिक व्यवस्था और उस पर आधारित कानून इस दस्तावेज को निष्क्रिय होने से बचाते हैं।

संविधान की व्याख्या का एकाधिकार केवल सर्वोच्च न्यायालय को है। इसलिए किसी भी कानून को असंवैधानिक साबित करके खारिज करने के लिए इसी अदालत के दरवाजे पर दस्तक दी जाती है। समय-समय पर सर्वोच्च न्यायालय के फैसलों ने न केवल विभिन्न अनुच्छेदों की व्याख्या की है बल्कि अपने रचनात्मक विश्लेषण से इनका दायरा भी बढ़ाया है। अनेक विद्वानों के अनुसार, यह कार्य किसी न्यायिक संविधान संशोधन से कम नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक की कल्पना बहुत अनोखी है। संविधान को एक जीता-जागता पात्र मानकर उसकी जीवनी को नौ अध्यायों

में लिखने का प्रयास लेखक ने किया है। उपशीर्षक में अध्याय नहीं बल्कि 'अंक' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि जीवनी की शैली उपन्यास वाली नहीं बल्कि नाटकीय है। यह तथ्य तर्कसंगत लगता है क्योंकि जिन संवैधानिक महत्व के मुकदमों का वर्णन तथा विश्लेषण इस पुस्तक में किया गया है उनसे संबंधित फैसलों में सर्वोच्च न्यायालय की पीठें एकमत नहीं रही हैं। नये फैसलें नाटकीय ढंग से अपने पुराने फैसलों को हमेशा बदलते रहे हैं और अक्सर यह लगता है कि प्रगतिशील समाज की यात्रा दो कदम आगे चल रही है या एक या पूरे दो कदम ही पीछे जा रही है। हालांकि अनेक महत्वपूर्ण फैसले एक मत के आधार पर तय हुए हैं और इन विवादित मुद्दों पर बहस अभी भी जारी है।

यहाँ यह जोड़ने की आवश्यकता है कि संवैधानिक सवाल या संकट सिर्फ वकीलों या राजनीतिक शास्त्र के विद्यार्थियों की दिलचस्पी का विषय नहीं रह गए। समानता का बुनियादी अधिकार हो या जीवित रहने के बुनियादी अधिकार, इनका मानवीय गरिमा के साथ जीने तथा निजता के अधिकार में विस्तार से जुड़े फैसलों ने भारतीय समाज के कायाकल्प की जमीन तैयार की है। इस बात को भी नकारना असंभव है कि भारतीय संविधान पिछले 70 वर्षों में एक बहुत बड़ा बदलाव लाने में कामयाब रहा है।

लेखक ने बड़े कौशल के साथ यह बात रेखांकित की है कि इस दस्तावेज की रूपरेखा ही सामाजिक बदलाव लाने वाले एक समर्थ उपकरण या धारदार अस्त्र के

रूप में की गई थी। भूमिका के विषय-प्रवेश में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संविधान निर्मात्री सभा में बाबा साहेब अंबेडकर तथा जवाहरलाल नेहरू बारंबार इस संविधान में बदलाव लाने वाली क्रांतिकारी भूमिका की याद उन प्रतिनिधियों को दिलाते रहे थे जो इसके मसौदे पर काम कर रहे थे। अक्सर छात्र संविधान के विभिन्न अध्यायों तथा महत्वपूर्ण अनुच्छेदों में ही उलझे रह जाते हैं जबकि असली जरूरत उस ऐतिहासिक-सामाजिक संदर्भ को सतत् ध्यान में रखने की है जिसमें इनकी रचना हुई थी। अंबेडकर तथा नेहरू दोनों इस बात को भलीभांति जानते थे कि सामंती बेड़ियों से मुक्ति पाए बिना राजनैतिक स्वतंत्रता बेईमानी है। सामाजिक-आर्थिक शोषण तथा उत्पीड़न के लिए अकेला औपनिवेशिक शासन ही जिम्मेदार नहीं था। अंधविश्वास, दकियानूसी तथा सामाजिक विकृतियों से छुटकारा पाए बिना संप्रभु एवं स्वाधीन भारत की कल्पना नहीं की जा सकती थी। जिन मुकदमों का उल्लेख इस पुस्तक में किया गया है उनके बारे में संविधान निर्मात्री सभा की बहसों का स्मरण अचानक किया गया है। संक्षेप में, जो छात्र प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी कर रहे हैं उनके लिए यह सामग्री बेहद उपयोगी है।

हालांकि यह काम अनेक विद्वानों ने पहले भी किया है कि अनावश्यक विस्तार तथा अमूर्तन के कारण उसे ग्रहण करना या सार्थक अंतर्दृष्टि प्राप्त करना कठिन रहा है। लेखक की सफलता हाल के चर्चित मुकदमों के आलोक में भारतीय संविधान

के सामाजिक बदलाव में निर्णायक भूमिका को बोधगम्य बनाने में रही है।

पुस्तक को तीन भागों में बांटा गया है। प्रत्येक भाग में तीन 'अंक' या छोटे-छोटे 'अध्याय' हैं। पाठक इन्हें अपनी जरूरत तथा रुचि के अनुसार स्वतंत्र निबंधों के रूप में अध्ययन कर सकता है। दिलचस्प बात यह है कि परिवर्तनकारी सोच तथा परिवर्तनकारी प्रयास इन निबंधों को एक सूत्र में पिरोते हैं और यदि चाहे तो पाठक बिना किसी व्यवधान के एक निबंध के तर्क को दूसरे निबंध में परिवर्तित कर सकता है।

पहला भाग समानता (Equality) पर केंद्रित है। इसमें लिंग के आधार पर भेदभाव को चुनौती देने वाले हाल के चुनिंदा महत्वपूर्ण मुकदमों का सर्वेक्षण किया गया है। समलैंगिकता को दंडनीय अपराध घोषित करने वाली भारतीय दंड संहिता की धारा 377 की पुनर्व्याख्या वाले 'नाज' गैर-सरकारी संस्था के मशहूर मुकदमे में दिल्ली उच्च न्यायालय के प्रगतिशील फैसले को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पलटने और फिर 4 वर्ष बाद सर्वोच्च न्यायालय की एक अन्य पीठ द्वारा अपने फैसले को बदलकर दिल्ली उच्च न्यायालय के तर्क को स्वीकार करने वाला प्रसंग एक तरह से विषय-प्रवेश की तरह इस्तेमाल किया गया है। अनुज गर्ग बनाम भारत सरकार वाले मुकदमे में कार्य करने के स्थान पर पुरुषों और महिलाओं के बीच भेदभाव तथा महिलाओं को शोषण से बचाने वाले तर्क को न्यायालय ने पितृसत्तात्मक मानसिकता मानते हुए खारिज कर दिया है। इसी भाग में एन. एम. टॉमस बनाम केरल राज्य वाले प्रकरण के माध्यम से समानता के बुनियादी अधिकार और आरक्षण विषयक संवैधानिक प्रावधानों के द्वंद्व के समाधान का प्रयास किया गया है। जिस समय संविधान का निर्माण हुआ था उस समय आरक्षण की व्यवस्था अस्थाई थी। तब से लेकर आज तक निरंतर इसकी अवधि बढ़ाई जाती रही है। आरक्षण के उन्मूलन की माँगों का टकराव आरक्षण के दायरे को बढ़ाने वाली माँगों के साथ निरंतर होता रहा है। लेखक ने बहुत प्रखरता से समाज के एक तबके के लिए आरक्षण

को समानता के बुनियादी अधिकार का पूरक दर्शाया है न कि विरोधी। यदि यह बहस आज जारी है तो सिर्फ इसलिए कि परिवर्तनकारी संविधान सामाजिक न्याय दिलाने और सभी प्रतिस्पर्धी नागरिकों के लिए समतल खेल का मैदान तैयार करने में कामयाब नहीं रहा है। हमें यह बात सोचने को मजबूर करती है कि यह नाकामयाबी संविधान की नहीं उन व्यक्तियों की है जिनकी जिम्मेदारी संवैधानिक व्यवस्था को लागू करने की रही है।

पुस्तक का दूसरा भाग बंधुत्व (भाईचारे) पर केंद्रित है। प्रस्तावना में ही लेखक समानता, स्वाधीनता एवं बंधुत्व के घनिष्ठ अंतर्संबंध को स्पष्ट कर चुके हैं। ये तीनों शब्द फ्रांसीसी क्रांति के नारे थे और तभी से इन्हें परिवर्तनकारी प्रेरणास्रोत मानते रहे हैं। भारत की आजादी की लड़ाई के मूल्यों में समानता, स्वाधीनता एवं बंधुत्व को प्राथमिक स्थान दिया गया है और संविधान निर्मात्री सभा ने इस तिहरी कसौटी पर ही विभिन्न अनुच्छेदों को कसकर स्वीकार किया है। यहाँ लेखक ने बंधुत्व (भाईचारे) को एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया है। बुनियादी अधिकारों में अल्पसंख्यक समुदाय के धार्मिक-सांस्कृतिक विशेषाधिकारों का उल्लेख है। जिस तरह आरक्षण की व्यवस्था सतही निगाह डालने पर समानता के अधिकार का उल्लंघन करती हुई लगती है वैसे ही अल्पसंख्यकों का अपनी सांस्कृतिक पहचान बरकरार रखने के लिए सांप्रदायिक-सामुदायिक बंधुत्व के क्षय को रोकने के लिए कानूनी संरक्षण का 'हठ' समानता के अधिकार को खारिज करने वाला प्रतीत होता है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने कई चर्चित (विवादित) फैसलों में अल्पसंख्यक धार्मिक-सांस्कृतिक विशेषाधिकारों को कानूनी सुरक्षा प्रदान की है। लेकिन यहाँ लेखक ने न्यायिक बहुमत को परिवर्तन करके नकारने या कम-से-कम विलंबित करने वाला माना है।

उसने असहमति मुखर करने वाले न्यायमूर्ति के फैसले से अपनी बात आगे पहुँचाई है। रोचक बात यह है कि अक्सर इस प्रसंग को बहुसंख्यकों के प्रति भेदभाव या अल्पसंख्यकों के साथ उनके अधिकारों

के टकराव के रूप में देखा जाता है परन्तु गौतम भाटिया ने यह दर्शाया है कि अल्पसंख्यक समुदाय विशेष में भी व्यक्ति और मुखियाओं/धर्माधीशों के बीच टकराव से विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। दाऊदी वीरा समाज से जुड़े मुकदमे के साथ हाजी अली दरगाह में महिलाओं के प्रवेश वाले प्रकरण से यही बात उजागर होती है। अभी हाल के सबरीमाला देवालय में एक निश्चित आयु की महिलाओं के प्रवेश वाले विवाद में भी इसकी गूँज सुनी जा सकती है। विवाह, विवाह-विच्छेद, संपत्ति के स्वामित्व तथा उत्तराधिकार के व्यक्तिगत कानून, धर्म एवं परंपरा पर आधारित है। इन्हें मान्यता औपनिवेशिक काल में विदेशी शासकों ने दी थी और निश्चय ही इनमें परिवर्तन की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता। स्वार्थी लोग हमेशा यह दलील देते रहेंगे कि यह काम धीरे-धीरे आंतरिक समाज-सुधार से ही संभव है लेकिन जनतांत्रिक समाज विशेषतः धर्मनिरपेक्ष राज्य बहुत देर तक इस आंतरिक सुधार की प्रतीक्षा नहीं कर सकता। लेखक ने कुछ व्यावहारिक समस्याओं का भी जिक्र किया है जो कानूनी उलझन पैदा करते हैं। पारसी सहकारी हाउसिंग सोसायटी वाले मुकदमे में भारतीय संविदा अधिनियम (Indian Contract Act) के प्रावधानों से विकट टकराव नजर आता है तो आइएमए एवं एक निजी मेडिकल कॉलेज वाले दावे में एक बार फिर आरक्षण वाली बहस प्रभावी भूमिका निभाती है।

तीसरे भाग में स्वतंत्रता विषयक संवैधानिक प्रावधानों का सर्वेक्षण व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक स्वतंत्रता का अंतर स्वीकार करते हुए बखूबी किया गया है। परिवार के सदस्यों को प्राप्त या वंचित स्वतंत्रता का उल्लेख यहाँ शुरू में ही किया गया है जो अक्सर अनदेखा उपेक्षित रह जाता है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के सिलसिले में ज्योति जॉर्ज बनाम महाराष्ट्र राज्य वाला मुकदमा विश्लेषण के लिए चुना गया है और अपवादों की न्यायसंगति एवं तर्कसंगति समझने के लिए उपयुक्त उदाहरण है। निजता के अधिकार के

सिलसिले में सेल्वी के चर्चित मुकदमे पर नया प्रकाश डाला गया है। यहाँ यह जोड़ने की आवश्यकता है कि हाल के दिनों में निजता के बुनियादी अधिकार के आधार पर ही आधार/यूआईडीएआई व्यवस्था को चुनौती दी जाती रही है। इसके अलावा सूचना के अधिकार तथा निजता के अधिकार के अंतर्विरोध को समझने के लिए यह 'अंक' उपयोगी है।

उपसंहार उन विषयों तथा फैसलों की संक्षिप्त पर सटीक एवं सारगर्भित समीक्षा प्रस्तुत करता है जो पुस्तक के प्रेस में चले जाने के बाद सुर्खियों में रहे हैं और जिनके अभाव में यह सामग्री अधूरी रह जाती। इसी अंतिम भाग में निजता के अधिकार वाली बहस के नए आयाम उद्घाटित होते हैं। लेखक का मत है कि सूचना क्रांतिजनित तकनीकी तथा डीएनए वाले जैविक शोध ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि जन्मजात (आनुवंशिक विरासत में प्राप्त) गुण/प्रवृत्तियाँ एक व्यक्ति को दूसरे से अलग करती हैं और भविष्य में उनके किसी रोग-विशेष से ग्रस्त होने की प्रबल संभावना या असामाजिक-आपराधिक आचरण की भविष्यवाणी को भी सहज बनाती हैं। मात्र 'संभावना' के आधार पर इस तबके के साथ भेदभाव नहीं किया जा सकता और न ही इनके अपराधोन्मुखी आचरण की आशंका के कारण इनके साथ भेदभाव बरता जा सकता है। सामूहिक हितों के तर्क के आधार पर भी व्यक्ति के समानता या निजता के बुनियादी अधिकारों का हनन सरकार नहीं कर सकती। गौतम भाटिया (लेखक) हमें इस पुनर्विचार का अवसर भी देते हैं कि हम संवैधानिक बुनियादी अधिकारों, नागरिक अधिकारों और मानवाधिकारों का अंतर समझ सकें। दाउदी बोरा के अनुसार, पारसी समुदाय में धर्मगुरुओं द्वारा किसी को धर्मच्युत् करना (धर्म से बाहर करना), उसे अंत्येष्टि, उत्तराधिकार एवं अपनी संपत्ति के इच्छानुसार हस्तांतरण जैसे नागरिक अधिकारों से वंचित करने के साथ-साथ अपनी आस्था के अनुसार पूजा-अर्चना के

उसके व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार से भी वंचित करता है।

यह पुस्तक इसलिए अनिवार्य रूप से पठनीय बन जाती है क्योंकि यह भारतीय संविधान की निष्क्रिय स्थिति को तोड़ने का उपकरण दर्शाती है जिसका मूल संस्कार परिवर्तनकारी है। काल के प्रवाह के साथ यह व्यवस्था स्वयं स्थिति की पोषक बन गई है। संविधान की व्याख्या करने वाले विद्वानों को भी लेखक संयमी, धीरजधारी (अपरिवर्तनकारी) तथा परिवर्तनकारियों की श्रेणी में रखते हैं। पुस्तक का कलेवर बड़ा है लेकिन इससे चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है। लगभग 500 पन्नों में 150 नोट्स, संदर्भ ग्रंथ सूची, अनुक्रमणिका आदि को समर्पित हैं जो केवल विशेषज्ञ एवं शोधकर्ताओं के ही उपयोग के लिए हैं।

भले ही यह पुस्तक कानून के दृष्टिकोण से लिखी गई है लेकिन इसकी सामग्री राजनीति, समाजशास्त्र तथा आधुनिक भारत के इतिहास, महिला विमर्ष, सभी प्रकार के वंचितों एवं अल्पसंख्यकों की जिंदगी के बुनियादी सरोकारों से जुड़ी होने के कारण सामान्य ज्ञानवर्धन के अतिरिक्त निबंध लेखन के लिए भी पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री एक जगह सुलभ कराती है।

सामान्य पाठक के लिए जो बात इस पुस्तक को कुछ दुरूह (कठिनाई से समझ में आने वाला) बनाती है वह लेखक द्वारा अदालती फैसलों का तुलनात्मक अध्ययन है। कनाडा एवं अमेरिका की अदालतों के संवैधानिक मुद्दों से जुड़े फैसले कानून की अमूर्त अवधारणाओं को समझने में सहायक हो सकते हैं लेकिन भारतीय परिवेश तथा ऐतिहासिक अनुभव के परिप्रेक्ष्य में विशेष रूप से आजादी के बाद के वर्षों की राजनीति की पृष्ठभूमि में यह कई जगह उलझन पैदा करते हैं। अच्छी बात यह है कि प्रतियोगी परीक्षा के छात्र इन्हें छोड़ सकते हैं। विभिन्न निबंध छोटे-छोटे प्रकरणों में बंटे हैं जिन्हें चुस्त शीर्षक अलग करते हैं। कई जगह एक निबंध के चुने हुए अपनी सुविधा के

अनुरूप (सामान्य ज्ञान के लिए उपयोगी) खंड पढ़ सकते हैं।

लेखक युवा वकील हैं जो सर्वोच्च न्यायालय में वकालत कर चुके हैं तथा इस पुस्तक में उल्लिखित अनेक मुकदमों में एक पक्ष पर बहस कर चुके हैं। इसके अलावा वे अनेक राष्ट्रीय विधि विश्वविद्यालयों में प्राध्यापन का कार्य भी कर चुके हैं। संवैधानिक विषयों पर उनके लेख प्रतिष्ठित देश-विदेश के शोध-पत्रिकाओं तथा समाचार-पत्रों में प्रकाशित होते रहते हैं। लेखक अपने छात्र जीवन में असाधारण प्रतिभा का प्रदर्शन कर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्ययन के लिए मशहूर रोड्स छात्रवृत्ति ग्रहण कर चुके हैं। उनकी समझ उदार, प्रगतिशील एवं आधुनिक-वैज्ञानिक तो है लेकिन उनकी पक्षधरता किसी राजनैतिक दल के साथ नहीं है। इसी कारण लेखन में पूर्वाग्रह मुक्त तटस्थता स्पष्ट दिखाई देती है। लेखक के बारे में एक और बात उल्लेखनीय है कि ये 'मिलीनियल' (हजार साल के) भले ही न हों लेकिन उस पीढ़ी के सदस्य अवश्य हैं जिसका जन्म 20वीं सदी के अंतिम दशक में हुआ है। भारत की आज की आबादी का अधिकांश भाग इसी उम्र का है। आज तक भारतीय संविधान पर जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें अधिकांश की रचना बुजुर्ग विद्वानों ने की हैं (अपने अनुभव के आलोक में, अपने समय की बहसों के मुद्दों को महत्वपूर्ण समझते हुए)। गौतम भाटिया (लेखक) ने अपनी पीढ़ी की नजर से बदलाव और बदलाव लाने के लिए निर्मित संविधान की संभावनाओं तथा सीमाओं की पड़ताल करने का बीड़ा उठाया है जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। अध्यापक, वकील एवं पत्रकार के रूप में एक साथ काम करने वाले गौतम के चिंतन तथा लेखन में असाधारण संतुलन और विवेक के दर्शन होते हैं। लेखक की सभी स्थापनाओं से सहमत होना जरूरी नहीं पर इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रस्तुत सामग्री बेहद विचारोत्तेजक है जो हमें अपना सोच बनाने में मददगार होगी।